शिक्षा-षण्णवतिः कर्तव्य-षट्त्रिंशिका च

विषयानुक्रमः

शिक्षा-षण्णवतिः कर्तव्य-षट्त्रिंशिका च

रचयितारः
श्री तुलसीरामाचार्य्याः

अनुवादकः
मुनिः बुद्धमलः

यह पृथ्वी धर्मके प्रभावसे ही टिकी हुई है, यह सूर्य और चन्द्रमा भी धर्मके प्रभाव-क्षेत्रसे बाहर नही जासके हैं अपितु उसके अनुचर ही हैं, यह प्रकाश (ज्ञानका) भी प्रत्येक घरमें उसीसे फैल रहा है और सरोवरोंमें (हृदयरूप सरोवरोंमें) ये कमल (सद्भावनारूप कमल) भी उसी धर्मके प्रभावसे विकस्वर हो रहे हैं ॥ १९ ॥

संसारके भूषण ! प्राणियोंके रक्षक ! हे जिनधर्म ! (अनेकान्त-रूप) पताकासे सुशोभित और (धर्मगुरुरूप) निर्यामक—केवटसे चालित तेरे जैसे सुन्दर जलयानके होते हुए भी कुछ पापी जीव भवसमुद्रमें डूबही जाते हैं, तो क्या यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात नहीं होगी ? ॥ २० ॥

जिस युगमें क्रूर-कर्मा, चरित्रहीन और ऊँचे हाथ उठा उठाकर हल्ला मचानेवाले मनुष्योंका घर-घर आदर होता हो, ऐसे युगमें हे संसारके भूषण ! प्राणियोंके रक्षक धर्म ! तुम यदि मौन हो जाओतो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि तुम महान् हो। जो महान् होते हैं, वे बिना अवसर नहीं बोलते, वे अवसरकी प्रतीक्षा करते हैं। ॥ २१ ॥

आसक्ति-प्रकरणम्

वैराग्यहीन तथा भोगलालसासे अन्धे हुए मनुष्यके शिरमें यदि स्त्री क्रुद्ध होकर लात भी मारदे तो वह निर्लज्ज होकर उसके पैर पपोलने लगता है। संसारका यह कितना विचित्र और कुत्सित दृश्य है! ॥७८॥

प्राक्-कथन

शिक्षा-षण्णवति और कर्तव्य-षट्-त्रिंशिका ये दोनों आचार्य-प्रवर श्री तुलसीकी लघुकाय किन्तु उपयोगी कृतियां हैं। दोनोंकी श्लोक संख्यां उनके नामसे ही प्रकट है। पहली कृति प्रसिद्ध स्तोत्र भक्तामरकी समस्यापूर्त्ति है। रचनाका उद्देश्य प्रशस्ति-श्लोकोंमें स्पष्ट किया गया है। इनकी रचनाका उद्देश्य मुख्यतया ज्ञान-वृद्धि नहीं किन्तु मानस-विशुद्धि है। उसके साथ ज्ञान तो अपने-आप बढ़ेगा ही। आत्म-विकासके हेतुभूत देव, गुरु, धर्म और उसके नियमोपनियम अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहका सुन्दर और हृदयग्राही विवेचन हुआ है। "रे ब्रह्म-चर्य: सुभगाय शिवाय मे स्याः" जैसी सरल-सरस और प्रसन्न उक्तिमें हृदयका प्रतिबिम्ब और आत्माका प्रकाशन है।

कर्तव्य-षट्-त्रिंशिकाके भाव तो जितने सरल हैं, उतने ही मर्म-वेधी हैं। मैं नहीं चाहता कि इन दोनों ग्रन्थोंको कवित्वकी

तपः-प्रकरणम्

परम पवित्र छः प्रकारके आभ्यन्तर तपको करनेसे आत्माको बड़ा कष्ट होता है किन्तु ज्ञानी साधुजन ज्ञान और क्रियाके इस विशिष्ट संयोग द्वारा शीघ्र ही अपने पूर्वकृत कर्म-बन्धनोंको तोड़-कर निर्बन्धन हो जाते हैं ॥८७॥

दृढ़प्रहारी आदि चोर भी जिसके प्रभावसे कर्मबन्धन मुक्त हो गये, वह तप नाना प्रकारकी समृद्धियोंके लिए साई है और मुक्ति-सुखोंका कारण है ॥८८॥

तुलासे तोलूं । मैं नहीं चाहता कि दर्शनकी युक्तियोंसे इन्हें परखूं। मैं चाहता हूं कि—

"केवलेनोपदेशेन, निश्चितं वाग्-विडम्बना"

जैसी उक्तियोंको हृदयमें उतारूं। इनके शिक्षा-वाक्यों द्वारा आत्म-शोधन करूं। 'सर्वा कला धर्म-कला जयति'—यथार्थ दृष्टिकोण द्वारा यथार्थका प्रतिपादन एक यथार्थवादीके लिये जितना उल्लासवर्धक होता है, उतना उल्लास उसके लिये अन्य किसी कलामें नहीं होता। यह इनकी विशेषता है कि निश्रेयसके साथ-साथ अभ्युदयकी कड़ी जुड़ी हुई है। धर्म और आत्म-शोधनकी शिक्षाके साथ-साथ साहित्य-रसास्वादन भी अपने आप हो जाता है।

जैन-शासनकी विनयमूल प्रणालीका षट्-त्रिंशिकामें सुन्दर चित्र है। विनयकी यथार्थता न समझनेवालेको स्यात् वह अति-रंजन सा लगे किन्तु तत्त्वतः स्थिति वैसी नहीं है। आत्म-साधक के लिए नम्र होना अत्यावश्यक है। गुरु और शिष्यके बीच स्वार्थ-संघर्ष नहीं होता। वहां आत्मार्पणकी वृत्ति होती है। शिष्य अपनी स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखनेके लिए अपनी समस्त वृत्तियोंको गुरु-चरणोंमें अर्पित करता है। यह स्वेच्छा-चरित वृत्ति न परतन्त्रता है और न गुलामी। किन्तु विनेता और विनेयके जीवनका सुन्दर सम्बन्ध है। यह आत्म-साधनाकी दशामें ही पल्लवित हो सकता है। भगवान महावीरकी वाणीमें इसका मार्मिक और विशद विवेचन है। दशवैकालिकका नौवां

भगवद्-भारती-प्रकरणम्

जिससे पवित्र आनन्दकी वृद्धि होती है, भगवान्‌के मुखसे उत्पन्न उस विशुद्ध वाणीको जो अपने कण्ठमें धारण करता है, उसे अन्य अलंकारोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। ॥६१॥

और उत्तराध्ययनका पहला अध्ययन द्रष्टव्य है। इनमें स्तब्ध और नम्र व्यक्तिकी जीवन-कृतियोंका बड़ा सूक्ष्म और तलस्पर्शी विश्लेषण है। "एवं धम्मस्स विणओ मूलं" की साधक-बाधक प्रवृत्तियों पर दृष्टि डालते-डालते शास्त्रकार उसे आत्म-नियन्त्रणकी भूमिका तक पहुंचा देते हैं। फलतः विनयका अर्थ होता है— आत्म-विजय। आत्म-साधकका जो परम और चरम लक्ष्य है। इन दोनोंका अनुवाद मुनि श्री बुद्धमलजीने किया है। अनुवाद सरल और सुबोध है। पाठकोंकी सुविधाके लिए यह भावात्मक किया गया है। मुझे विश्वास है कि इसके द्वारा संस्कृत न जानने वाले भी मूल-तत्त्वोंके हृदय तक पहुंच सकेंगे।

सं० २००७
श्रावण शुक्ला ३
हांसी (पूर्वी पंजाब)

मुनि नथमल

स्याद्वाद-प्रकरणम्

स्याद्वादी कभी आग्रही—हठी नहीं होता, इसलिए वह सरल हृदयवाला होता है और सदा प्रसन्न रहता है तथा जो स्याद्वादी नहीं होता, वह अपनी बात पर अड़नेवाला होता है। जब उसकी बात नहीं मानी जाती तो वह अप्रसन्न होता है और खेद करता है। यदि तुम तत्त्व-गवेषक हो और संसार-भ्रमणसे मुक्त होना चाहते हो तो स्याद्वादका आश्रय लो, क्योंकि कोई हठी तत्त्व प्राप्त कर सका हो, ऐसी बात क्या कहीं पर सुनी है ? ॥६३॥

एक रस्सीको यदि दो पुरुष दो तरफसे खींचते हों तो रस्सी बीचसे टूट जाती है और दोनों खींचनेवाले गिर जाते हैं, यह जानी सुनी बात है। यदि उनमेंसे एक उस रस्सीको ढीली कर देता है तो वह नहीं गिरता और दूसरा खींचनेवाला गिर जाता है। इसी तत्त्वको समझकर स्याद्वादी विवादमें—खींचतानमें नहीं पड़ता और सदा अविवादी रहकर समन्वयके द्वारा विजय प्राप्त करता है। ॥६४॥

• प्रकाशकीय—

आजके लोक-परिवर्तित युगमें ऐसे साहित्यकी आवश्यकता है, जो आध्यात्मिक विश्वासके साथ जनगणमें चरित्र-बल जागृत कर सके और संत्रस्त मानवताका पथ-प्रदर्शन कर नैतिकताका सञ्चार कर सके। इस दिशामें अपने सृजनात्मक लक्ष्यको लेकर 'आदर्श-साहित्य-संघ' विभिन्न मालाओंके रूपमें सुव्यवस्थित प्रकाशन करता रहा है और आज भी सतत् प्रयत्नशील है।

'शिक्षा-षण्णवति एवं कर्तव्य-षट्त्रिंशिका' यह आध्यात्मिक क्रान्तिके जननायक आचार्य श्री तुलसीकी अनुपम रचना है। केवल रचना मात्र नहीं, वरन् आध्यात्मिक जीवनसे ओत प्रोत आत्मानुभूतिकी एक सुन्दर कृति है, जिसके अवलोकन मात्रसे आत्म सुखकी एक अज्ञात भावना प्रवाहित हो उठती है। मूल भाषाके साथ हिन्दीका अनुवाद साथमें हो जानेसे पुस्तक और भी उपयोगी बन गई है।

'आत्म-दर्शन-माला' के अन्तर्गत एक महान् आत्मदर्शीकी आत्मासे उद्बोधित प्रस्तुत ज्ञान-राशिका प्रकाशन पाठकोंके समक्ष रखते हुए हमें अत्यन्त आत्म-गौरवका अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत प्रकाशनमें कोई त्रुटि रह गई हो तो, हम उसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

—प्रकाशन मंत्री

(प्रशस्तिः)

अष्टमाचार्य श्री कालु गणीकी जन्मभूमि छापर-चातुर्मासमें साध्वियोंका संस्कृत अभ्यास बढ़ानेके लिए तथा आत्म-तुष्टिके लिए साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप विशिष्ट सम्पत्तिके अधिनायक नवमाचार्य श्री तुलसी गणीने इस शिक्षा-षण्णवतिकी विक्रम संवत् २००५ शरद् ऋतुमें रचना की, यह सदा भव्य प्राणियोंको कल्याणदायिनी हो। ॥९७-९८॥

(४)

शिक्षा-षण्णवतिः व कर्तव्य-षट्त्रिंशिका 'आत्म-शिक्षण-माला' का चौथा पुष्प है। जिसका उद्देश्य सरल और सुबोध भाषामें तत्त्व-ज्ञानके साथ बालकोंका चरित्र निर्माण करना है। जिसके सुश्रृङ्खलित प्रकाशनमें चुरु (राजस्थान) के अनन्य साहित्य-प्रेमी श्री हनूतमलजी सुरानाने अपने स्वर्गीय पिता श्री मन्नालालजीकी स्मृतिमें नैतिक सहयोगके साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्य-सुरुचिका परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम 'आदर्श-साहित्य-संघ' की ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

—प्रकाशन मन्त्री

(२)

कर्तव्य-षट्त्रिंशिका

जो अभिमानी मर्यादाओं को तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, वह स्वयं ही अतिशीघ्र तुच्छ बन जाता है—लोकदृष्टिसे गिर जाता है। ॥८॥

यह सारा गण—संघ मेरे लिए और मैं सारे गणके लिए हूं। मेरा और गणका परस्पर अविच्छिन्न मेल है, बार बार यही बात सोचनी चाहिए। ॥९॥

आचार्यकी आज्ञाको मुकुटकी तरह अपने सिरपर धारते हुए और उस आज्ञाके अनुगामी रहते हुए ही तुम अपना प्रत्येक कार्य करो। ॥१०॥

गणपति—संघपतिकी जिस व्यक्तिके प्रति जब जहां जैसी दृष्टि होती है, उस व्यक्तिके प्रति तब वहां वैसी ही दृष्टि प्रत्येक विचारशील व्यक्तिकी होनी चाहिए। ॥११॥

शिक्षा-षण्णवतिः

गुरुप्रकरणम्

विष्वग् विषादपरिपूरितविस्टपेऽस्मिं-
स्तस्यैव मौलिकमिहास्ति जनुर्जनस्य ।
यस्य क्रियारचितिराचरणं भवेयु-
रालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

आलम्बनं भवजले पततां जनानां,
स स्यात् समस्तभुवने तिलकायमानः ।
यस्य स्वयं विकृतयः प्रलयं प्रयाता,
यत्सूक्तयः प्रकृतपापविमुक्तये स्युः ॥२॥

गुरुप्रकरणम्

जिस मनुष्यके कार्य, ग्रन्थ और आचरण संसार-सिन्धुके अथाह जलमें डूबते हुए मनुष्योंके उद्धारका कारण बनते हैं, उसी मनुष्यका जन्म इस अनन्त दुःखोंसे परिपूर्ण संसारमें मौलिक कहा जाता है ॥१॥

जो स्वयं विकारोंको नष्ट कर चुका हो, जिसके एक एक वचन पूर्वकृत पापोंसे मुक्ति दिलानेवाले हों, वही संसारका सर्व-श्रेष्ठ मनुष्य, संसार-समुद्रमें डूबते हुए मनुष्योंके उद्धारका कारण बन सकता है ॥२॥

नानाविवादविकले वसुधातलेऽस्मिन्,
प्रद्योतयेद् गुरुपदं स किलोर्ध्वरेताः ।
यो विश्रुतोऽविकलसच्चरिताश्रितात्मा,
यः संस्तुतः सकलवाङ्मय तत्त्वबोधात् ॥३॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधाद्,
विद्वद्वरैर्निखिलशास्त्रविवेचनार्हैः ।
किन्तु स्वजीवनगतिर्विकृता कुवृत्ता,
च्चेत्तादृशो गुरुरहो त्रुडितं जनोघैः ॥४॥

तत्त्वप्रचारणपटुं कटुताविमुक्तं,
मुक्त्येकबद्धहृदयं हृदयार्जवाढ्यम् ।
ज्ञानाम्बुधिं गुरुवरं श्रुतभागधेया,
दन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥५॥

जिसका चरित्र अखण्ड हो और जो वाङ्मयगत समस्त तत्त्व-ज्ञानसे परिचित हो, वही ऊर्ध्वरेता—ब्रह्मचारी इस वाद-विवादोंमें फँसेहुए पृथ्वीतल पर गुरुपदको अलंकृत कर सकता है ॥३॥

जिस गुरुके जीवनकी गति असदाचारके कारण विकारग्रस्त हो गई है, उसको स्तुति चाहे फिर अशेष शास्त्रोंकी विवेचना करनेवाले प्रखर विद्वान् समस्त साहित्यके तत्त्वों द्वारा भी क्यों न करते रहें, परन्तु वह संसारको तारनेवाला कभी नहीं हो सकता, अपितु डुबोनेवाला ही होता है ॥४॥

ऐसा गुरु, जो तत्त्वका प्रचार करनेमें निपुण, कटुतासे रहित, मुक्तिके लिए परम उत्सुक, हृदयसे सरल और ज्ञानका अगाध समुद्र हो, किसी भाग्यशालीके अतिरिक्त और किसको मिल सकता है ? ॥५॥

प्रत्यक्षपक्षपतितात् सुविवेकशून्या,
दन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्
मिथ्यादृशं श्रमणधर्मविशेषवर्जं,
तद्वेषवृत्तिकमलं गुरुवर्यबुद्ध्या ॥६॥

यस्येन्द्रियाणि वशगानि मनो न मूढं,
रात्रिंदिवं प्रयतते स्वपरात्मसिद्ध्यै ।
कान्तस्य गौरवमहो विवरीतुमीशः,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥७॥

मेधाविनाऽपि मनुजेन महामहिम्ना,
धर्तव्य एव किल सद्गुरुरुत्तमाङ्गे ।
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्यां;
को वा भवान्तमयते गुरुमन्तरेण ॥८॥

श्रमण-धर्मसे रहित होकर केवल श्रमण-वेषसे अपनी उदर-पूर्ति करनेवाले असत्यदर्शीको प्रत्यक्षतः पक्षपाती तथा विवेकहीन व्यक्तिके अतिरिक्त और कौन गुरु-बुद्धिसे स्वीकार कर सकता है ? ॥६॥

जिस प्रकार भुजाओंसे तैरकर कोई भी समुद्रका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हों, मन मोह में न फँसा हो और जो रातदिन स्व-पर-कल्याणके लिए सचेष्ट रहता हो, उसके गौरवका भी पार कोई नहीं पा सकता ॥७॥

मनुष्य कितना ही बुद्धिमान् तथा यशस्वी क्यों न हो, फिरभी उसे अपने सिरपर सद्गुरुका अनुशासन तो धारण करना ही चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार नौकाके विना केवल भुजाओंसे कोई भी समुद्रका पार नहीं पासकता, उसी प्रकार गुरुके विना भव-समुद्रका पार भी कोई नहीं पासकता ॥८॥

ग्राह्यो यथाशु सुगुरुर्गरिमाण मास,
स्त्याज्यस्तथैव कुगुरुर्गुरुताविहीनः ।
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्यां,
लोष्टुं श्रितोऽपि किमु क्रोऽपि कदापि तीर्णः ॥९॥

कश्चिद् विभात्ययमहो सुगुरोः प्रभाव-
आरोढुमर्हति यतः खलु पंगुरद्रिम् ।
मूको मयाऽह समलोकि रुजार्त्तगात्रः,
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ॥१०॥

कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः,
सर्वज्ञवर्णिततरस्य गुरोर्गरिम्णः ।
को विस्मयोऽत्र किमुना विकलं यतेत,
पुत्रः पितृप्रथितकर्मणि कर्मशीलः ॥११॥

गुरुतायुक्त सद्गुरु जितना ग्राह्य है, उतनाही गुरुताहीन कुगुरु त्याज्य है, क्योंकि भुजाओंसे तथा पत्थरकी नौकासे क्या कभी कोई समुद्रको पार कर सकता है? समुद्र अच्छी नौकासे ही पार किया जासकता है, भुजाओं तथा पत्थरकी नौकासे नहीं, वैसे ही भवसमुद्र भी सद्गुरुके सहारेसे ही पार किया जा सकता है, अपने आप तथा कुगुरुके सहारेसे नहीं ॥९॥

सुगुरुका यह कोई अचिन्त्य ही प्रभाव होता है कि जिससे पंगु भी पहाड़की चोटी पर चढ़ सकता है अर्थात् एक क्रियाहीन व्यक्ति क्रियाशील बनकर उन्नतिके शिखर चढ़ सकता है। मैंने यह भी देखा है कि एक रोगी तथा मूक व्यक्ति जो बोलना भी नहीं जानता, गुरुके प्रभावसे बोलनेमें प्रवृत्त हो जाता है ॥१०॥

गुरुके जिस माहात्म्यका वर्णन सर्वज्ञोंने किया है, उसी माहात्म्यको मैं एक असमर्थ व्यक्ति भी व्यक्त करने चला हूं। आपको इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि पिताने जो काम किया हो, उसी कार्यको करनेमें यदि कर्मठ पुत्र निरन्तर प्रयास करने लगे तो क्या यह कोई आश्चर्य है? ॥११॥

यावन्न लब्धशरणः करुणार्णवस्य,
कर्णातिथेः सुवचसो गुरुदेशितस्य ।
तावन्नरो विभवशाल्यपि नो विभाषी,
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति ॥१२॥

आकर्ण्य कर्ण-कुहरे सदृशीं गुरूक्तिं,
लाभस्तु तत्र निजयोग्यतयैव लभ्यः ।
आम्रांकुरान् कवलयन् कटु कौति काको,
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति ॥१३॥

जबतक मनुष्य गुरुके द्वारा उपदिष्ट कानमें पड़नेवाले करुणा-गर्भित वचनोंकी शरण नहीं लेता, तबतक वैभवशाली होनेपर भी शोभित नहीं होता। दृष्टान्तके लिए कोयलको ही लीजिये, वह स्वतः मधुरभाषिणी होती हुई भी चैत्रमासमें जितनी मधुर बोल सकती है, उतनी अन्य महीनोंमें नहीं॥१२॥

गुरुका उपदेश सबके लिए समान होता है, फिरभी श्रोतृगण अपनी अपनी योग्यताके अनुसार ही लाभ उठा सकते हैं। जैसे—चैत्रमें आमकी मंजरियोंका समानतया उपभोग करने पर भी काक तो कटु ही बोलता रहता है और कोयल अधिक मधुर बोलने लगती है॥१३॥

धर्म-प्रकरणम्

येषां प्रिया सहचरी सुतरामहिंसा,
सत्यं वचः सुहृदचौर्य्यमतोऽनुचारी।
दासी सदैव दमिता यमिता च तेषां,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ॥१४॥

संदेग्धि कोऽत्र ननु संयमसाधनेन,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
धूमध्वजेन वनदाहविवर्धितेन,
किं दह्यते न पतितोऽत्र पलालपूलः ॥१५॥

धर्म-प्रकरण

अहिंसा जिनकी सहचरी है, सत्य जिनका मित्र है, अचौर्य्य जिनका अनुगामी है और दमिता (इन्द्रिय दमन परकता) तथा यमिता (विरक्तता या नियमानुवर्तिता) जिनकी दासियां हैं, उन महर्षियोंके पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

संयमकी साधनासे प्राणियोंके पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं, इसमें कौन सन्देह कर सकता है; क्योंकि वनको जला देने वाली अग्निमें घासके एक पूलेका जलना क्या कभी सन्देहास्पद होता है ? ॥१५॥

द्यूतादिदुर्व्यसनतः पतितोऽपि पाप्मा,
प्रोद्दीप्तिभाग् भवति संयमसंश्रयेण ।
स्वातौ सुशुक्तिवदने गगनाच्च्युतोऽपि,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥१६॥

शश्वज्जडोऽपि जडजोऽपि सदाश्रयेण,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ।
मिथ्यात्विनोऽप्यसुमतस्तपसाश्रितस्य,
धर्मित्वमस्तु विषये विरुणद्धि कोऽत्र ॥१७॥

गर्वारुणोऽस्यरुण ! किं त्वमितीवकुर्याः,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ।
किन्तु प्रपृच्छ कुमुदांस्तव गौरवाभां,
सर्वत्र तुल्यमहिमा स तु धर्म एकः ॥१८॥

द्यूत आदि दुर्व्यसनोंमें पड़कर जो पापात्मा पतित हो जाता है, वह संयमका आश्रय लेकर पुनः उत्थानोन्मुख हो सकता है। जैसे—आकाशसे च्युत होकर भी पानीकी बूंद स्वाति-नक्षत्रमें सीपके मुंहमें जाकर मोतीका रूप धारण कर लेती है ॥१६॥

जड़ मेघसे उत्पन्न होनेवाली पानीकी एक नगण्य बूंद सीपका शुभ आश्रय लेकर मोतीका स्वरूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार यदि एक मिथ्यात्वी प्राणी तपस्याके आश्रयसे धर्मका आंशिक आराधक बन जाता है तो इस विषयमें किसका विरोध हो सकता है? ॥१७॥

सूर्य! 'मैं सरोवरस्थ कमलोंको विकस्वर करता हूं' यही सोचकर क्या तू इतना गर्वित हो रहा है? यदि सचमुच इस मिथ्याभिमानका तू शिकार हुआ है तो पहले उन कुमुदोंसे पूछ, जो तेरे आगमन मात्रसे मुरझा जाते हैं, तेरे गौरवका खोखलापन वे ही बतायेंगे। संभवतः तब तू यह भी जान सकेगा कि सर्वत्र एक समान गौरव प्राप्त करनेका अधिकारी तू नहीं किन्तु एक मात्र धर्म ही है, क्योंकि वह एकका पोषक और एकका शोषक न होकर सबका ही पोषक होता है ॥१८॥

धर्मप्रभावमनुतिष्ठति सम्यगेषा,
विश्वस्थितिस्तदनुगाविह पुष्पदन्तौ ।
तेजस्ततः प्रसरति प्रतिसद्म तस्मात्,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥१९॥

चेतोहरे प्रवहणे त्वयि सत्पताके,
नियमिकादिनिचितेऽपि भवाम्बुराशौ ।
जीवा ब्रुडन्ति जिनधर्म ! यतः किमेतद्,
नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ ! ॥२०॥

क्रूराः कलङ्कितकलाश्च यदूर्ध्वहस्ता,
यस्मिन् युगे प्रतिगृहं मनिताः श्रिताश्च ।
तूष्णीं स्थितः किमपि धर्म ! महांस्त्वमित्थं,
नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ ! ॥२१॥

वृष्टं जिनेन्द्रवदनाम्बुमुचः सुचारु,
सृष्टं प्रकृष्टपटुभिर्गणभृत्सरोभिः ।
तस्मिष्टमिष्टमपि धर्मपयो विहाय,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥२२॥

यस्मिन् विभाति विशदा खलु विश्वमैत्री,
यद्भित्तिरीप्सितफला विमलेत्यहिंसा ।
तं जैनधर्ममपहाय विधर्मरूपं,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥२३॥

क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छे,
च्छित्वामृतं मुहुरितीत्थमहो ब्रुवाणाः ।
वेगादधर्मनिरता विषयैषिणो वा,
किं कुर्वते समुचितं सुविचार्यमेतैः ॥ २४ ॥

जिनेन्द्रदेवके मुखरूप मेघसे बरसे हुए और अत्यन्त चतुर गणधररूप सरोवरोंके द्वारा संचित किये हुए धर्मरूप मीठे पानीको छोड़कर समुद्रके खारे पानीकी (कुदेवनिर्दिष्ट अधर्मको ग्रहण करनेकी) कौन इच्छा कर सकता है ? ॥ २२ ॥

विशुद्ध विश्वमैत्री जिसका साध्य है और ईप्सित फल देनेवाली अहिंसा जिसकी मूलभित्ति—नींव है, ऐसे जैनधर्मको छोड़ कर विधर्मरूप समुद्रीय खारे जलको पीनेकी कौन इच्छा करे ? ॥२३॥

'अमृतको छोड़कर समुद्रके खारे पानीको कौन पीना चाहे' ? ऐसा कहनेवाले अधर्मासक्त और विषय-लोलुप बनकर स्वयं क्या कर रहे हैं, इस बातपर समुचित विचार करें। ॥ २४ ॥

अध्यात्मवादविदुषां हृदयं सुपुंसा,
माधारभूमिरपवर्गपदस्य पन्थाः ।
केनाऽत्र धर्म इति सारतरः पदार्थो,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूतः ॥२५॥

नान्यं प्रशस्ततरमार्गमवेक्षमाणं,
पुन्यं शुभं यमधिकृत्य सदोदपादि ।
यस्मात्सुखानि सुलभानि सतां स केन,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूतः ॥२६॥

भेदद्वयी भवति सम्वरनिर्जराख्या,
यस्यापुनर्भवविभूतिभृतोऽमलस्य ।
सर्वेषु जन्तुषु समोधिकृतः स केन,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूतः ॥२७॥

जो अध्यात्मवादियोंका हृदय, सत्पुरुषोंका आधार और मोक्ष का मार्ग है, उस त्रिलोकीमें एकमात्र सुन्दर तथा सारभूत 'धर्म' नामक पदार्थकी रचना किसनेकी है ? ॥ २५

अपने उत्पन्न होनेका और कोई प्रशस्त मार्ग नहीं पाकर पुण्य सदा जिसके आश्रयसे ही पैदा होता है और सारे सुख भी (भौतिक या आत्मिक) जिससे सुलभ होते हैं, उस तीन लोकमें एकमात्र सुन्दर 'धर्म' का निर्माण किसने किया है ? ॥२६॥

जिस मुक्तिदाता निर्मल धर्मके सम्वर और निर्जरा ये दो भेद होते हैं और जो सब प्राणियोंको समान अधिकार देता है, उस तीन लोकमें एकमात्र सुन्दर 'धर्म' का निर्माण किसने किया है ? ॥२७॥

येनाद्रितः परिचितो विदितः सुधर्मः,
संशीलितः प्रतिपलं हृदि धारितश्च ।
तेन प्रबुद्धमनसा सहसा निजात्मा,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूतः ॥२८॥

क्वासावनादिनिधनोऽविकलो ज्वलाभः,
सर्वत्रशान्तिवरदो जिनराजधर्मः ।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य,
यच्छोषयेद् विरहिमानसवृत्तिमाशु ॥२९॥

क्रूरत्वकल्ककलितं स्खलितं खरांशो-
र्बिम्बं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य ।
नैर्मल्यमाप्तमधुनापि जनोपकाराद्,
धर्माद् ऋते नहि विशुद्धिपदं विभाति ॥३०॥

जिसने धर्मको स्वीकार किया है, जिसने इससे परिचय किया है, जिसने इसका ज्ञान किया है, जिसने इसे आचरणमें में उतारा है और जिसने इसको प्रतिक्षण हृदयमें स्थान दिया है, उस ज्ञानी मनुष्यने अपनी आत्माको तीन लोकमें एकमात्र सुन्दर बना लिया है। ॥२८॥

कहां तो यह अनादि-निधन- शाश्वत, अखण्डरूपसे प्रकाश फैलानेवाला और सबको शान्तिका वरदान देनेवाला जिनधर्म और कहां यह कलंकित तथा विरही मनुष्योंकी चित्तवृत्तिको ठेस पहुंचानेवाला चन्द्रबिम्ब ? (इन दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती।) ॥ २९ ॥

क्रूरताके पापको वहन करनेकी स्खलना करनेवाला सूर्यका बिम्ब और कलङ्क द्वारा मलिन होनेवाला चन्द्रमाक - ब, दोनों ही जनताका उपकार करते हैं किन्तु केवल जनोपकारसे आजतक भी अपने दोषोंको धोकर 'निर्मलता कहां पा सके हैं, क्योंकि आत्मशुद्धि धर्मके बिना और किसी प्रकारसे नहीं हो सकती ॥३०॥

धार्मिक-प्रकरणम्

पार्थिक्यमेति जगतीव्यवहारतोयं,
नैक्यं कथंचिदनयोर्वरतां बिभर्ति ।
इत्थं विमृष्य शिववर्त्मनि संस्थिता ये,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥२१॥

उत्सृज्य धर्मसरणीं धरणीं श्रिता ये,
नास्त्यात्मतत्त्वमिति नास्तिकतां गता ये ।
निस्सीमभीमभववारिनिधावदभ्रं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥२२॥

धार्मिक-प्रकरणम्

'जगत्का व्यवहार और धर्म पृथक् पृथक् हैं। इन दोनोंको एक समझ लेना कल्याणकारी नहीं होता।' इस तत्त्वको हृदयङ्गम करके जो मनुष्य मुक्तिमार्ग पर प्रस्थान करते हैं, उनको यथेष्ट गमन करनेसे कौन रोक सकता है? ॥३१॥

धर्मके मार्गको छोड़कर जो धरती पर बैठ गये हैं—निरुत्साह हो गये हैं तथा 'आत्मा नामक' कोई तत्त्व नहीं है, यों समझकर जो नास्तिक हो गये हैं, उनको इस अपार भयंकर भव-सागरमें डूबनेसे कौन रोक सकता है? ॥३२॥

नानामनोज्ञरससंभृतभोजनेन,
कान्तासुकोमलकटाक्षविलोकनेन ।
धर्मैकनिष्ठहृदयान् प्रविहाय केषां,
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ॥३३॥

येषां स्वभावरमणप्रकृताशयानां
पञ्चेन्द्रियप्रबलभोगपरंपराभिः ।
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गं,
ते धार्मिका ध्वनिधुरीणपदं लभन्ते ॥३४॥

रे जैनधर्म ! भुवनेश ! निजप्रकाशैः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
तत्किं ममात्ममयमन्दिरमास्थितोऽपि,
नाद्यावधि प्रकुरुषेऽमितसंविदाढ्यम् ॥३५॥

नाना प्रकारके मनोज्ञ रसयुक्त भोजनसे और स्त्रियोंके कोमल कटाक्षोंकोदेखनेसे धर्मनिष्ठ व्यक्तियोंके अतिरिक्त और कौन ऐसा है, जिसका मन किञ्चित् भी विकारग्रस्त न होता हो ? ॥२३॥

स्वभावतः सुन्दर और सरल आशयवाले जिन मनुष्योंका मन पांचो इन्द्रियोंकी प्रबल भोग-सामग्रियोंसे किञ्चित् भी विकार-ग्रस्त नहीं होता, वे ही धर्मके मार्गमें प्रमुखता पा सकते हैं। ॥२४॥

हे विश्ववन्द्य जैनधर्म ! तुम अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण तीनलोक को प्रकाशित करते हो, तो फिर मेरे इस आत्म-मन्दिरको— जिसमें तुम निरन्तर बसा करते हो, क्यों नहीं अनन्त ज्ञानसे ज्योतित कर देते ? ॥२५॥

मिथ्यात्वमन्युमदमोहममत्वमार—
मन्दत्वमानघुनपानतमोमृषादीन् ।
धर्मावृणोषि यदि तर्हि कथं कथेयं,
कृत्स्नं जगन्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ॥३६॥

हे धर्म! जबकि तुम मिथ्यात्व, क्रोध, मद, मोह, ममता, काम, अज्ञता, अभिमान, मद्यपान, पाप और असत्य आदि दुर्गुणोंको आवृत करते हो तो यह कैसे कहा जा सकता है कि तुम सम्पूर्ण तीनलोकको प्रकाशित करते हो? ॥२६॥

अहिंसा-प्रकरणम्

विद्वेषवेषपरिमोषि भयं प्रयाति,
त्वत्तो विकासमयते जगदन्तरात्मा ।
हे प्राणिमात्रहितकारिणि देव्यहिंसे ।
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्रलोके ॥३७॥

ज्योत्स्नां प्रसारयति शान्तरसः शशाङ्कः
प्रोल्लासितास्त्वदुदयेऽपि नृनेत्रताराः ।
सन्तापहारिणि विदारिणि पापपङ्कः,
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्रलोके ॥३८॥

अहिंसा-प्रकरणम्

हे अहिंसादेवि ! तू विद्वेषका नाश करनेवाली है, भय तेरेसे दूर रहता है, जगत्‌की अन्तरात्मा तेरेसे विकास पाती है, प्राणीमात्रका तू हित करनेवाली है और मुनिवरोंके लिए तो तू सूर्यसे भी बढ़कर प्रकाश देनेवाली है। ॥३७॥

हे अहिंसादेवि ! तू मुनिवरोंके लिए सूर्यसे भी बढ़कर प्रकाश देनेवाली है, तुम्हारे उदयकालमें भी शान्त-रस-रूपी चन्द्रमा अपनी कौमुदी फैला रहा है, मनुष्योंकी नेत्ररूपी ताराएं विकसित हो रही हैं। सन्ताप-हरण करनेवाली और पाप पुञ्जका विनाश करनेवाली देवि ! क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं ? ॥३८॥

सत्यं शिवङ्करमहिंस्रपथं सुगम्यं,
नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारम् ।
आदत्स्व भो ननु नचेति विहाय शीघ्रं,
कर्तुं समुन्नतिमथोत्सुकतां बिभर्षि ॥३९॥

विभ्राजति त्वयि दयामय धर्म ! विश्वे,
हिंसास्थितिर्यदपि पापिनि नेति चित्रम् ।
त पश्यामि पार्वतगुहासु निशात्ययेऽपि,
नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारम् ॥४०॥

हे मनुष्य ! यदि तू उन्नति चाहता है तो शीघ्रातिशीघ्र 'ननु, नच' छोड़कर मोहरूप अंधकारसे रहित, शाश्वत, सत्य, कल्याणकारी और सुगम अहिंसा-मार्गको स्वीकार कर ॥३९॥

हे दयामय धर्म ! (अहिंसाधर्म) संसारमें तेरे होते हुए भी हिंसाने पापियोंके हृदयमें निवासस्थान पा लिया है तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि हम देखते हैं, दिन उग जाने पर भी अन्धकार सावधान होकर पर्वतोंकी गुफाओंमें सदा विद्यमान रहता है। ॥४०॥

सत्य-प्रकरणम्

जागर्ति जीवति च सत्यमयः प्रकाशः,
विश्वाङ्गणे तिमिरशैलपविःप्रभावी ।
किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
विश्रान्तिमिच्छुरिव योऽस्तमवैति शश्वत् ॥४१॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
नोद्भास्यते जगदिदं भृतिमन्तरेण ।
वर्षन्ति प्रावृषि न किं नियताः पयोदाः,
सत्यप्रतापपरिजृम्भितमेव सर्वम् ॥४२॥

सत्य-प्रकरणम्

अज्ञानरूप अन्धकारके पर्वतोंको विनष्ट करनेके लिये एकमात्र सत्यका प्रकाश ही वज्रसा प्रभावशाली इस संसारमें जागृत और जीवित रहता है। रात्रिमें चन्द्र और दिनमें सूर्य क्या प्रकाश दे सकते हैं जबकि बार बार अस्त होते हैं, मानो कि विश्राम करना चाहते हैं। ॥४१॥

रात्रिमें चन्द्रमा और दिनमें सूर्य, क्या विना, वेतन ही इस जगत्को प्रकाशित नहीं करते हैं? वर्षाकालमें मेघ भी क्या विना वेतन ही नियतरूपसे नहीं बरसते हैं? यदि 'हां' तो समझना चाहिए कि यह सारा सत्यका प्रभाव ही है, अर्थात् चन्द्र, सूर्य और मेघ अपने सत्य-स्वभावसे ही अपना अपना कार्य करते हैं, उन्हें वेतन नहीं चाहिए। मनुष्यको भी सत्यमें ऐसा ही अडिग होना चाहिए। ॥४२॥

ख्यातिं गतेषु वितथोक्तिविशारदेषु,
चित्ते स्वभावमहतां न मृषा रुचिः स्यात्।
ग्राह्या मतिर्भवति रत्नपरीक्षकाणां,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥४३॥

यच्चात्मदर्शनमलं कुरुते सुसत्ये,
सत्यव्रताहितमतिर्मतिमान् मनुष्यः।
तल्लेशमात्रमपि चेत्स्फटिकेन लभ्यं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥४४॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्योंकी प्रख्याति होते देखकर भी जो स्वभावतः महान् होते हैं, उनके चित्तमें झूठके प्रति कभी रुचि नहीं हो सकती, क्योंकि काचका टुकड़ा सूर्यकी किरणोंसे चमकता भी हो तो भी रत्नपरीक्षकोंकी बुद्धि उसे ग्रहण करनेकी ओर नहीं झुकती। ॥४३॥

सत्यव्रतमें निष्ठा रखता हुआ मनुष्य सत्यमें जो आत्म-दर्शन कर पाता है, उसका लेश भी न तो स्फटिकमें और न चाक-चिक्ययुक्त किसी दर्पणमें ही कर सकता है, क्योंकि ये सब तो शरीर-दर्शनके ही साधन हैं। ॥४४॥

अचौर्य्य-प्रकरणम्

संतोषपोषितमतिर्व्रतिपादसेवी,
शश्वत् परस्वहरणे तनुते न नेति ।
एकां विहाय शिवसद्मरमां तु तस्य,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥४५॥

आस्वादितः सकृदचौर्य्यमहाव्रतस्य,
यैः स्वादुसारदरसः स्ववशैः सुपुण्यैः ।
तेषां विशिष्टतमविक्रमशालि चौर्य्यं,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥४६॥

अचौर्य्य-प्रकरणम्

जिसकी बुद्धि सन्तोषसे पुष्ट हुई है और जो साधुजनकी संगतिमें रहता है, उसकी आत्मामें पर-धन हरण करनेके विषयमें यही अन्तर्ध्वनि निकलेगी—'नहीं, नहीं ऐसा नहीं करना चाहिए।' ऐसे मनुष्यके मनको एक मुक्ति-लक्ष्मीको छोड़कर और कोई वस्तु जन्मान्तरमें भी नहीं लुभा सकती। ॥४५॥

जिन स्वतन्त्र और सुपुण्य व्यक्तियोंने एकवार भी अचौर्य्य-महाव्रतका स्वादिष्ट और सारयुक्त रस चखलिया है, उनके इस महान् बलशाली मनको जन्मान्तरमें भी कोई चोरीकी ओर नहीं झुका सकता। ॥४६॥

ब्रह्मचर्य-प्रकरणम्

यो ब्रह्मचर्यनिरतो विरतान्तरात्मा,
यस्य स्वमुष्टिमधितिष्ठति चित्तवृत्तिः ।
तादृङ् नरो विरल एव विलोक्यतेऽन्यान्,
स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान् ॥४७॥

येषामभोगचरितेन शितेन सम्यग्
ऊर्ध्वं गतो जगति जैनलसल्ललाटः ।
ते नेमिराट्प्रभृतयो भुवि भूतयोऽन्यान्,
स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान् ॥४८॥

ब्रह्मचर्य-प्रकरणम्

सैंकड़ों स्त्रियां अन्य सैंकड़ों ही पुत्र पैदा करती हैं किन्तु ऐसा तो कोई विरलाही मनुष्य पैदा होता देखा जाता है, जो ब्रह्मचर्य में रत हो, अन्तरात्मासे विरक्त हो और अपनी चित्तवृत्तियों को मुट्ठीमें रखनेवाला हो। ॥४७॥

जिन्होंने अपने विशुद्ध ब्रह्मचर्यके तेजसे जैनका मस्तक संसार के सन्मुख ऊंचा उठाया है, वे नेमिनाथ आदि महापुरुष संसार की विभूतियां हैं, अन्य तो चरित्रहीन सैंकड़ों ही पुत्र माताएं जनती हैं। ॥४८॥

ध्यायामि नौमि वितनोमि वृणोमि वयं,
तद् ब्रह्मचर्यमभितो गुणगौरवार्च्यम् ।
यद् योगिनो विगणयन्ति विचित्रवर्चं,
आदित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ॥४९॥

शीलं सलीलमखिलं परिशीलितं यैः
किं वर्णयाम्यनुपमेय तदात्मवर्णम् ।
बाह्यं शरीरमपि तत् स्फाटिकोज्ज्वलं चे,
दादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ॥५०॥

यच्चेतसा जगति चित्तवतामचिन्त्यं,
संवेदनेन विमलेन भवेदवेद्यम् ।
यत्सर्वशक्त्यनुगतं सुरतप्रतीपं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥५१॥

योगीजन जिसे पापरूप अन्धकारके सामने सूर्य जैसा प्रकाशमान और विचित्र बलशाली गिनते हैं, उस गुणपुंज ब्रह्मचर्यको मैं चिन्तनका विषय बनाता हूं, नमस्कार करता हूं, विस्तीर्ण करता हूं और स्वीकार करता हूं। ॥४६॥

जिन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण किया है, उनका यह बाह्य शरीर भी स्फटिकके समान उज्ज्वल और अंधकारके विनाशार्थ सूर्यके समान प्रकाशमान होता है तो फिर उनके आत्माकी अनुपम उज्ज्वलताका तो वर्णन ही क्या किया जा सकता है? ॥५०॥

प्राणी जिसे न तो मनके द्वारा जान सकते हैं और न निर्मल ज्ञानके द्वारा ही, उस सर्व-शक्तियोंमें व्याप्त ब्रह्मचर्यको साधुजन विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ही बतलाते हैं। ॥५१॥

यद् यादृशं भवति तच्च तथेतिवेद्यं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।
शीलस्वरूपमधुनापि विवेच्यवाच्यं,
योगीश्वरैरभिलषामि मुदाऽवगन्तुम् ॥५२॥

ब्रह्मासि किं निखिलसत्यसमन्वितस्त्वं,
ध्रौव्येण मेरुरिति संकलयामि सत्यम् ।
किं कोमलोऽसि कुसुमात् कठिनोऽसि वज्रात्
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ॥५३॥

त्रातासि तारक ! भवाधिविबाधितानां,
दाताऽसि विश्वविदितस्य सुखास्पदस्य ।
भ्रातासि शील ! किल शश्वद्बान्धवानां,
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात् ॥५४॥

सत्पुरुषोंका कथन है—वस्तुका स्वरूप जैसा हो, वैसा ही जानना ज्ञानका शुद्धस्वरूप है। अतः ब्रह्मचर्यके विषयमें विवेचनपूर्वक विशिष्ट योगियोंको प्रकाश डालना चाहिए। मैं इसे अब भी स्वयं ब्रह्मचारी होते हुए भी, जाननेको उत्सुक हूं, क्योंकि अनन्त ब्रह्मचर्य-समुद्रके मंथनसे कोई न कोई नवीन विचार-रत्न अनायास मिल ही जाता है। ॥५२॥

हे ब्रह्मचर्य! तू अनन्त शक्तिका भण्डार है अतः क्या तू ब्रह्मा है? तू ध्रुव—स्थिर है; अतः सचमुच ही भान होता है कि तू मेरु है। तू कोमल है, तो क्या कुसुमसे भी अधिक? तू कठोर है तो क्या वज्रसे भी अधिक? तू तीनों लोकोंको सुखदेनेवाला (शं+कर=सुख करनेवाला) है, अत. क्या तू शंकर है? ॥५३॥

हे तारक ब्रह्मचर्य? तू भवकी व्यथासे व्यथित मानवोंका रक्षक है। संसार-प्रसिद्ध सुखास्पद—मोक्षका देनेवाला है। बन्धु-हीन मनुष्योंका बंधु है और हे धीर! कल्याणमार्गकी विधिका विधान करनेवाला है। अतः तू धाता—सबको धारण करनेवाला है। ॥५४॥

संरक्षितोऽसि नवभिर्वृ तिभिर्वराभि-
र्विश्वेश्वरैर्विरचिताभिरलौकिकीभिः ।
संशीलितोऽस्यनुपमात्मबलावलीढै
र्वाक्कायमानससुसंयमशालिसद्भिः ॥५५॥
संकीर्तितः परमकारुणिकैर्जिनेशैः,
संप्राप्तकेवलयुगैर्युगवर्तकैस्त्वम् ।
रे ब्रह्मचर्य ! सुभगाय शिवाय मे स्या-
स्तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ ॥५६॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैः,
श्रीब्रह्मचार्यतितमां समलंकृतः स्यात ।
गुर्विङ्गितज्ञमपहाय विनीतशिष्यं,
स्थैर्य्यं क्व वेत्सि सकलाभिरलंकलाभिः ॥५७॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै,
रुत्सृष्टमाश्रितमतीव गुणैर्विलोके ।
अब्रह्मचारिणमहो मनुजं क्व नूनं,
पापास्पदं भवति पापिजनान् विहाय ॥५८॥

आत्मबली साधुजन मन, वचन और कायाको वशमें करके तेरा अनुशीलन करते हैं और तीर्थंकर-रचित अलौकिक श्रेष्ठ नव वाड़ोंसे तेरा संरक्षण करते हैं। इसी तरह युग-प्रवर्तक केवल-ज्ञान और केवल-दर्शनके धारक परम करुणामय तीर्थङ्कर तेरा यशोगान करते हैं, अतः हे ब्रह्मचर्य! सुभग! कल्याणमय! और तीनों लोकोंके दुःखनाशक! तुझे मेरा नमस्कार है। ॥५६॥

यदि ब्रह्मचर्यके पास सारे गुण आते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है? क्योंकि गुरुके इशारेको समझनेवाले विनीत शिष्यको छोड़कर सब कलाओं सहित स्थैर्य और कहां मिल सकता है? अर्थात् जैसे विनीत शिष्यके पास कला और स्थैर्य आता है, वैसे ही ब्रह्मचारीके पास सारे गुण आते हैं। ॥५७॥

मैं देखता हूं कि अब्रह्मचारी मनुष्यको गुण तो छोड़ देते हैं और अवगुण उसे अपना आश्रय बनाते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि पाप पापियोंको छोड़कर और कहां जाकर आश्रय ले। ॥५८॥

अपरिग्रह-प्रकरणम्

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं,
द्रव्यं हिरण्यमणिमौक्तिकहीरकाद्यम् ।
दृष्ट्वैव दैवतमनोऽपि धुनोति धैर्य्यं,
कां तत्र कातरनृणां कथयामि वार्ताम् ॥५९॥

वेद्मीत्यवश्यमपरिग्रहवत्तया स्या,
दात्मोन्नतिर्भवविरक्तिभृतां सुपुंसाम् ।
भालस्थलं भवति भानुविडम्बि तेषां,
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानम् ॥६०॥

अपरिग्रह-प्रकरणम्

अपनी प्रस्फुटित होती हुई किरणों द्वारा अंधकारको मिटाने वाले सुवर्ण, मणि, मोती और हीरोंको देखकर देवताओंके मनका धैर्य भी डोल उठता है तो तुच्छ मनुष्योंकी तो बात ही क्या कहें ? ॥५६॥

मैं यह अच्छी तरहसे जानता हूं कि अपरिग्रहवत्तासे—परिग्रह को छोड़ देनेसे भवविरक्त प्राणियोंकी ही आत्मोन्नति होती है। प्रकाशकी किरणें फैलानेवाला और अंधकारका नाश करनेवाला उनका भव्य ललाट सूर्यको भी चुनौती देनेवाला हो जाता है। ॥६०॥

निःस्वो निरन्तरतया धरणीतलासी,
यादृक् सुखान्यनुभवेद् हृदि तुष्टिमाप्तः ।
तृष्णा प्रपीडिततनुः क तथास्थितोऽपि,
सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे ॥६१॥

केचित्तु धर्मकरणेऽप्यनिवार्यमूचु,
र्धुम्नं विना तदह धर्ममशक्यमाहुः ।
तेषां मते शिवसुखाधिकृताः स्थिता ये,
सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे ॥६२॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
दिव्याम्बरावृतमलंकृतिभूषितं च ।
गात्रं न चात्र यदि किञ्चिदलोभवृत्ति,
व्यर्थं समस्तमपि शान्तिमृते विभात्यम ६३

हृदयमें सन्तोष रखनेवाला अतएव निरन्तर तपस्वी एक निष्परिग्रही व्यक्ति भूमिपर बैठकर जैसा आनन्द प्राप्त करता है, वैसा आनन्द तृष्णासे पीड़ित धनिक व्यक्ति मणि-मण्डित सिंहासन पर बैठकर भी नहीं पा सकता। ॥६१॥

कुछ मनुष्य धर्म करनेके लिये धनकी अनिवार्य आवश्यकता बतलाते हैं और कहते हैं कि धनके बिना धर्म अशक्य है। उनके मतसे तो जो मणि-मण्डित सिंहासनों पर बैठनेवाले धन कुबेर हैं, वे ही मोक्षके अधिकारी ठहरते हैं किन्तु यह असत्य है। ॥६२॥

जिसका शरीर उभय पक्षमें बीजे जानेवाले कुन्दके समान धवल चामरोंसे सुशोभित हो, बहुमूल्य वस्त्रोंसे आवृत हो और आभरणोंसे आभूषित हो, फिर भी यदि उसकी वृत्ति कुछ भी अपरिग्रहकी ओर नहीं झुकती तो उसे कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती और शान्तिके बिना जो कुछ उसके पास है, वह सब व्यर्थ ही समझना चाहिए। ॥६३॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
तीर्थाधिनाथमभिसेव्यमहत्त्वमासः ।
उन्नस्य शिक्षयसि शाश्वतमूकवाण्या,
सेव्यः सदैव मनुजैरपरिग्रहीशः ॥६४॥

किं नेक्षसेऽम्बरविहारणमम्बुवाह,
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
यावज्जहाति न जलं ममताभ्युपेतं,
तावद् बिभर्ति कलितं किल कालिमानम् ॥६५॥

उत्कन्धरास्त्वरितमीक्षितुमेवराहु,
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
नात्मस्वरूपपरिरोधकमात्मनिष्ठं,
लोको न पश्यति निजाङ्घ्रितलं ज्वलन्तम् ।६६।

हे अपरिग्रह ! तू अपनी शाश्वत मूक भाषा द्वारा बड़े जोरों से यह शिक्षा देता है कि कुन्द-धवल चामरोंसे वीज्यमान भगवान्‌की सेवासे महत्त्व पानेवाले परिग्रहत्यागी साधुओं तथा धर्माचार्योंकी मनुष्यको सदाही सेवा करनी चाहिए। ॥६४॥

क्या तुम आकाशमें विहार करनेवाले और सूर्यकी किरणों को आच्छादित कर देनेवाले ऊंचे मेघको नहीं देखते ? वह भी जबतक अपने पानीका ममत्व नहीं छोड़ देता—बरस नहीं जाता, तबतक कालिमा ही धारण किये रहता है किन्तु उससे मुक्त नहीं हो सकता। ॥६५॥

सूर्यके प्रभावको आच्छादित करनेवाले आकाश स्थित राहु को देखनेके लिए तो लोग बड़े उत्सुक होते हैं किन्तु अपनी आत्माके स्वरूपको आच्छन्न करनेवाले आत्मामें ही ठहरे हुए कर्म-राहुको देखनेके लिए नहीं। वे इस कहावतको चरितार्थ कर देते हैं—'डूंगर बलती देखिये, पग बलती न देखंत:'। ॥६६॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति,
शान्तिं विलोक्य वदनस्य सुतोषभाजः ।
क्लान्तिं कलङ्कितकलां विकलां च गृह्णोः,
प्राणिस्तवात्र किमुपास्यमपास्यमस्ति ॥६७॥

सन्तोषी मनुष्यके मुंहपर खिले हुए स्वर्ण-कमलकी आभावाली शन्ति छाई रहती है और लोभी मनुष्यके मुंहपर कलाहीन अशांति शान्ति और अशान्ति इन दोनोंको देखकर अब तुझे स्वयं चुनना है कि सन्तोष और लोभमेंसे तेरे लिए क्या हेय है और क्या उपादेय ? ॥६७॥

देव-प्रकरणम्

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति,
मादर्शय क्षणमथात्र तथा स्थितां ते ।
येनाऽत्र भारतभुवीश्वररूपशम्भोः
स्याद्दर्शनं जिनवरस्य विशालमूर्तेः ॥६८॥

यादृग् निवृत्तिपथगस्य विवेचनं स्याद्,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
स्यात् संयतेर्भयमसंयमजीवितेन,
तादृक्कुतो भवति भास्वरभोगभाजः ॥६९॥

देव-प्रकरणम्

हे प्रभो ! खिले हुए स्वर्ण-कमलकी सी तथाभूत शोभा कुछ यहां दिखलाओ जिससे हम भारतवासी आप जैसे विशालमूर्ति जिनेश्वरदेवके पुनः दर्शन कर सकें। ॥६८॥

धर्मके विषयमें स्वयं निवृत्ति-मार्गपर चलनेवाला जैसा विवेचन कर सकता है, वैसा अन्य नहीं ; क्योंकि संयमीको असंयम-जीवनसे जैसा भय होता है, वैसा भोगी मनुष्यको कहां होता है ? तात्पर्य यह है कि संयमी, उनमें भी जिनेश्वरदेव पूर्णतः निःस्वार्थ होते हैं अतः सच्ची बात कहते हैं और भोगी स्वार्थवश असत्योपदेशी भी हो सकते हैं। ॥६९॥

सौख्यानुभूतिरिह धर्मगणाधिपस्य,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
कार्य्यस्य संप्रणयने हि परोपकारः
कोऽन्योस्ति धर्मपथदर्शनतः प्रकृष्टः ॥७०॥

जिनेश्वरदेवके उपदेशमें जैसा आनन्द आता है, वैसा अन्य किसीके उपदेशमें नहीं क्योंकि उनका यह कार्य्य निःस्वार्थ बुद्धि से परोपकारके लिए होता है और धर्म-मार्ग दिखानेसे बढ़कर और कोई परोपकार नहीं हो सकता ॥८०॥

विरक्ति-प्रकरणम्

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
दन्तावलः स्वचरणं धरणीं न नीतः ।
भीतः स्वयं शशवधाद् नृभवं निबध्य,
मेघाभिधो मुनिरभूदुपकारकत्वात् ॥७१॥

धीरा जिनोदितदयैकरसाप्लुताङ्गा,
आध्यात्मिकं सदुपकारमपेक्षमाणाः ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वाप्यसंयमपथं न मनाक् प्रयान्ति ॥७२॥

विरक्ति-प्रकरणम्

झरते हुए मदसे लिप्त कपोलवाले मेरुतुंग नामक हाथीने 'मेरे द्वारा इस खरगोशकी मृत्यु न हो जाय' इस भयसे अपना पैर धरती पर नहीं टेका और तीन पैरों पर खड़ा रहकर घोर कष्ट सहन किया। इस विरक्तिके कारण उसने तिर्यंच भवका उच्छेद किया और मनुष्य भवका बन्धन कर श्रेणिक राजाका पुत्र मेघकुमार हुआ तथा साधुता ग्रहण कर आत्म-कल्याणके पथ पर अग्रसर हुआ। ॥७१॥

जो धीर पुरुष जिनेश्वरदेव-प्रतिपादित दयाके रसमें भीगे हुए होते हैं और आध्यात्मिक उपकारके लिए अर्थात् किसीके भी आत्म-उत्थानमें सहयोग देनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं, वे विरागी मनुष्य ऐरावत सदृश विशालकाय उन्मत्त हाथीको अपनी ओर झपटता देखकर भी असंयमके मार्ग पर नहीं जाते अर्थात् संयम विरुद्ध आचरणकर अपनी रक्षा नहीं करते क्योंकि असंयमाचरणसे की गई प्राण-रक्षासे संयमाचरणमें होनेवाली मृत्यु सदैव उत्तम है। ॥७२॥

कुर्यात् कुबेरमपि यो धनवत्तया न्यक्,
सौभाग्यशालिनि जने प्रथमप्रतिष्ठः ।
किं भूरिभूरि विभवं विवृणोमि यस्य,
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ॥७३॥
वैराग्यमाप्य सहसा विजितान्तरात्मा,
चित्रं जहज्जगदरं चरणं प्रपन्नः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
मन्ये विनास्त्रविततिं स्ववशंगतोऽस्य ॥७४॥
(युग्मम्)

दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गं,
कः कोऽत्र भोः प्रशमयेत् प्रचुरेन्धनेन ।
आभ्यन्तरो विषयभोगविजृम्भिदाह-
स्त्वन्तर्विरागसलिलैः शमतामुपैति ॥७५॥

जिसने अपने धनसे कुवेरको भी नीचा कर दिया और जिसने सौभाग्यशाली मनुष्योंमें प्रथम स्थान पाया, जिसके वैभवका और क्या वर्णन किया जाय, इतना कहना ही काफी होगा कि जिसके घरका आँगन मोतियोंसे जड़ा था, वही शालिभद्र विराग प्राप्त होकर, अन्तरात्मा पर विजय पाकर और शीघ्रतासे इस संसारको छोड़कर क्रमशः संयमी बना। यह ऐसी घटना थी, मानों हिंसक परिपाटीवाले (मनरूप) सिंहको उसने शस्त्रोंकी सहायताके विना ही अपने वशमें कर लिया हो ॥७३-७४॥

जिसके स्फुलिङ्ग दूर-दूर तक उछलते हों, ऐसे प्रज्वलित दावानलको ईन्धनसे कौन शान्त कर सकता है? वासनाकी आन्तरिक आग भी विषय-सेवनके ईन्धनसे नहीं किन्तु विरागरूपी पानीसे ही शान्त होती है। ॥७५॥

धन्यो मुनिर्ध्वनितदिग्विजयोर्ध्वढक्कं,
ओजस्वितात्मबलचित्रितलोकशक्तिः ।
पश्चादघत्त किल मोहमहापलादं,
विश्वं जिघित्सुमिव सम्मुखमापतन्तम् ॥७६॥

सज्ज्ञानदीपमपि यश्च विरागदण्ड-
चण्डं प्रधार्य भवभीषणवार्क्षमाशु ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंकः,
प्रांतः पवित्रपदवीमहमोमुदीति ॥७७॥

वह मुनि धन्य है जिसने सारे संसारको विनष्ट कर देनेके लिए उद्यत हुए मोहरूप महा राक्षसको पीछे हटा दिया है—हरा दिया है और अपनी ओजस्विता तथा आत्म-शक्तिसे सारी जनता को चकित कर दसों दिशाओंमें विजय दुन्दुभि बजा दी है ॥७६॥

विशुद्ध ज्ञानरूप दीपक और विरागरूप प्रचण्ड दण्ड को धारणकर जो निःसंकोच इस संसाररूप भीषण अटवीका अव-गाहन करता है, वह अपने लक्ष्य—मोक्षपदको प्राप्त होकर कृत-कृत्य हो जाता है। ॥७७॥

आसक्ति-प्रकरणम्

भोगाभिलाषपरिलुप्तपटुत्वकस्य,
वैराग्यवर्जितबलस्य शिरोऽङ्गना चेद् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्तत्पादयोर्निपततीति विचित्रमेतत् ॥७८॥

ज्ञान-प्रकरणम्

अज्ञानमात्मनि कृतास्पदमास्थितं यद्,
विश्वापकारकरणप्रवणं स्फुटं तत्।
ज्ञानात् क्षणात् क्षयमुपैति यथान्धकार-
मुद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम् ॥७९॥

ज्ञानं सुशोभयति योग्यतयैव मर्त्यो,
हीनस्ततोऽप्यपकृतिं कुरुते स्वकीयाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
चक्षुर्भजेत विकृतिं किमु नाल्पशक्ति ॥८०॥

ज्ञान-प्रकरणम्

जो अज्ञान संसारका अपकार करनेके लिए आत्मामें घर जमाये बैठा है, वह ज्ञानसे क्षण भरमें वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्यकी किरणोंसे अन्धकार। ॥७६॥

योग्य मनुष्य अपनी योग्यतासे ज्ञानकी शोभा बढ़ाता है और अयोग्य मनुष्य इसी ज्ञानसे कुछ न कुछ अपना बिगाड़ करलेता है। क्योंकि समर्थ आंखें जहां सूर्य-किरणोंके प्रकाशमें पदार्थोंको देख सकती है, वहां निर्बल आंखें क्या चौंधिया नहीं जातीं? और अधिक विकृत नहीं हो जातीं? ॥८०॥

श्रद्धा-प्रकरणम्

येषां समस्ति नवतत्त्वरुचिर्विशिष्टा,
श्रद्धान्विता सपदि मोहजिघांसुनामा ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षाः,
सम्प्राप्य तेऽक्षयपदंससुखं लभन्ते ॥८१॥

लब्ध्वाऽपि शत्रुपरिपूरितदिग्विभागे,
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षाः ।
सद्दर्शनेन रहिता अहितायातास्या,
आत्मारिवर्गविजिता न हिदात्मने स्युः ॥८२॥

श्रद्धा-प्रकरणम्

जिनको नवतत्त्वोंको जाननेमें विशेष रुचि है और जो श्रद्धालु हैं, वे मोहशत्रुके साथ होनेवाले युद्धमें दुर्जय शत्रु-पक्षको जीतकर विजय प्राप्त करते हैं और अन्तमें सुख-पूर्वक मुक्ति-पद प्राप्त करते हैं। ॥८१॥

जिसमें चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हों, ऐसे घोर संग्राममें दुर्जय शत्रुपक्षको जीतकर भी व्यक्ति, यदि सम्यग्दृष्टि नहीं है तो अहितके लिए दरवाजा खोलकर आत्म-शत्रुओंसे (कर्म-रूप-शत्रुओंसे) पराजित हो जाता है और ज्ञानके योग्य नहीं रहता ॥८२॥

श्रद्धालवो नहि भयाकुलिताननास्ते,
आस्तिक्यभावभरिता दृढ़प्रत्ययाश्च ।
लोकाग्रुलग्नमनसो यदि चेद् भवाब्धे,
रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्राः ॥८३॥

सद्देवधर्म गुरुषु प्रणिधाय पूर्णं,
विश्वासमाशु गृहिणोऽपि विभिन्नपोताः ।
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ,
नाब्धौ ब्रुडन्ति यदि वार्णिकामदेवाः ॥८४॥

जो आस्तिकतासे भरे हुए, दृढ़विश्वासी तथा मुक्तिकी ओर टकटकी लगाये होते हैं, वे श्रद्धालु कभी नहीं घबराते, चाहे फिर उनकी जीवन-नौका भवसमुद्रकी चंचल तरंगों पर ही क्यों न गुजर रही हो ॥८३॥

महा मत्स्योंको भी भय पैदा करनेवाली वाडवाग्नि जिसमें प्रज्वलित हो रही हो, ऐसे महासमुद्रमें जहाजके टूट जाने पर भी अर्णक और कामदेव आदिकी तरह वे गृहस्थ उसमें नहीं डूबते जो सच्चे देव, धर्म और गुरुमें पूर्णतः विश्वास रखते हों ॥८४॥

संयम-प्रकरणम्

सत्संगरंगरचिता निचिता नितान्तं,
सत्यादिसार्वदिकसंयमिता गुणैर्ये ।
आजन्मशीलसलिलाप्लवपूतगात्रा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥८५॥

नो येषु सच्चरितसूत्रितसूत्रसन्धि,
नो येषु संयमलवोऽपि रवोऽपि सूक्तः ।
ग्राह्यं ततोऽस्तु गुणिभिः किमु तत्र चेत्तो,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥८६॥

संयम-प्रकरणम्

जो सत्संगके रंगसे रंगे होते हैं, सत्य आदि नैरन्तरिक संयम से संयमित होते हैं और आजीवन ब्रह्मचर्यरूप पानीमें स्नान कर अपने गात्रको पवित्र करनेवाले होते हैं, वे मनुष्य कामदेवके समान सुरूप हो जाते हैं ॥८५॥

जिन मनुष्यों में सदाचारके लिए बनाये गये नियमों के प्रति आदरभाव नहीं, संयम—इन्द्रिय-निग्रहका नाम नहीं, और यहां तक कि बोलनेकी सभ्यता भी नहीं, वे मनुष्य चाहे कामदेव जैसे सुरूप भी क्यों न हों, पर कोई भला आदमी उनके पास जाकर क्या ग्रहण कर सकता है? ॥८६॥

तपः-प्रकरणम्

बाह्यान्तरैरसकृदर्च्यतमैस्तपोभि-
श्चेतस्विनां भवति संपरितप्त आत्मा ।
ज्ञानक्रियायुगलयोगमवाप्य सन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ॥८७॥

नानासमृद्धिपरिमेलनमूलकर्म,
सत्याकृतिः शिवसुखस्य तपोऽनिमित्तम्।
चौरा दृढप्रभृतयोऽपि यतः प्रभावात्,
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥८८॥

रत्न-त्रय-प्रकरणम्

मोक्षाध्वनीनमनुतिष्ठति शुद्धदृष्टि-
र्ज्ञानं प्रदीप इव दीपयतेऽस्य वर्त्म ।
चारित्रमारचयते सहयोगमित्थं,
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव ॥८९॥

रत्न-त्रय-प्रकरणम्

जो मोक्ष-पथका पथिक होता है, सम्यग्दृष्टि सदैव उसका अनुसरण करती है, दीपककी तरह ज्ञान उसके मार्गको प्रकाशित करता है, चारित्र सदैव उसे सहारा देता है और भय स्वयं भीत होकर उससे दूर भाग जाता है।

मोक्ष-मार्ग-प्रकरणम्

शान्तस्य विस्मृतकषायचतुष्टयस्य,
पक्षीकृताक्षयपदाध्वचतुष्टयस्य ।
शान्ताः स्वयं निगडिता निरुपद्रवाः स्यु-
र्मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानला हि ॥९०॥

मोक्ष-मार्ग-प्रकरणम्

जो शान्त है, चारों कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) को छोड़नेवाला है और मोक्षके चार मार्गों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप) कोअङ्गीकार करनेवाला है, उसके सामने उन्मत्त हाथी, सिंह तथा दावानल आदि विघ्न स्वयं शान्त हो जाते हैं, नियन्त्रित हो जाते हैं और कोई उपद्रव नहीं कर पाते।

भगवद्-भारती-प्रकरणम्

वृद्धिर्यतः समुपयाति सुभारतेश्च,
तां भारतीं भगवतां वदनाद्विवृष्टाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
शुद्धान्ततः सततमलंकृतिभिः कृताभिः ॥९१॥

सद्गुणरत्नमाला-प्रकरणम्

श्रद्धाक्षमाविनयमार्दवसत्यभक्ति-
सारल्यसाम्यशुचिसद्गुणरत्नमालाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तस्यास्पदं भवति भद्रमचिन्त्यमेव ॥९२॥

सद्गुणरत्नमाला-प्रकरणम्

श्रद्धा, क्षमा, विनय, मृदुता, सत्य, भक्ति, सरलता, समता और शुचितारूप परम पवित्र गुणोंकी मालाको जो निरन्तर अपने कण्ठमें धारण करता है, उसका निवास-स्थान भी अनिर्वचनीय कल्याणमय बन जाता है। ॥६२॥

स्याद्वाद-प्रकरणम्

(शार्दूलविक्रीडितम्)

स्याद्वादी सरलाशयोऽनवरतं शान्ताग्रहो मोदते,
स्वात्ताकर्षणतत्परस्तदितरः प्राप्नोति खिन्नां गतिम्।
तथ्यं तत्त्वमहो कदाग्रहपरैरात्तं क्वचित् किं श्रुतं,
चेत्त्वं तत्त्वरुचिर्बिभेषि भवतः स्याद्वादवादं श्रय ॥१३॥

(शिखरिणी)

गृहीत्वैकां रज्जुं यदुभयत आकर्षति युगं,*
द्विधा स्याच्चेन्मध्यात् पतनमुभयोर्निश्चितमतः ।
श्लथीकुर्याच्चैको झगिति निपतेत् कर्षकनर-
स्तथैवं स्याद्वादी सततमविवादी विजयते ॥१४॥

---

* नयगम

(मन्दाक्रान्ता)

ह्रस्वो वर्णो गुरुरथ मतो युक्तवर्णेऽन्तिकस्थे,
ख्यातो वप्ता स च नहि सुतः किं स्ववप्तुःसमक्षे ।
एको हेतुः स्वपरमतयोः साधको वाधकश्च,
नानापेक्षापरिचितमतिर्नावमन्येत जैनम् ॥९५॥

(हरिणी)

निखिलभुवनव्याप्तं विष्वग् जगद्व्यवहारभृत्,
प्रतिदिनकृतौ बालस्त्रीणामहो वदने स्थितम् ।
सममतसमन्वायि स्वान्यप्रदार्शनिकप्रियं,
शिवपुरपथं श्रीस्याद्वादाभिधं मतमाश्रय ॥९६॥

जो वर्ण ह्रस्व होता है, वही संयुक्त वर्णके पहले गुरु कहा जाता है, जो पिता है, वही अपने पिताके सामने क्या पुत्र नहीं है? एक हेतु स्वमतके लिये साधक और पर-मतके लिये बाधक होता है, इस प्रकारकी नाना अपेक्षाओं को जो व्यक्ति जान लेता है, वह जैन-मतकी कभी अवहेलना नहीं करता। ॥६५॥

जो संसार भरमें फैला हुआ है, जो जगत्के चलते हुए व्यवहारका मूल है, जिसे प्रतिदिन किये जानेवाले कार्योंमें आबाल-गोपाल काममें लेते हैं, जो स्व-पर दार्शनिकोंको प्रिय है और जो मुक्तिका प्रशस्त मार्ग है, उस स्याद्वाद नामक मतका आश्रय ले। ॥६६॥

(प्रशस्तिः)

(द्रुतविलम्बितम्)

समितिशून्यवियन्नयनाञ्चिते,
सुखदसंवतिसौम्य शरदृतौ ।
वसुपटाधिपकालुगणेशितु-
र्जननभूमिरियं सुविराजते ॥९७॥

शिक्षाषण्णवतिः ग्रन्थितेयं शुभाय,
साध्व्यभ्यासाय स्वान्तसम्मोदनाय ।
नवमाचार्येण प्राज्यसंपच्छ्रितेन,
भद्रं भव्यानामातनोतूच्छ्रितैषा ॥९८॥

(युग्मम्)

स्वकर्तव्यमकर्तव्यं, विदन्ति नहि ये जनाः ।
यदा कदाप्यनिष्टं स्या-दिह तेषामतर्कितम् ॥१॥

कृत्याकृत्यमजानानाः, पशूयन्ते नरा अपि ।
कृत्याकृत्यविवेको हि, नृपश्वोरन्तरं विदुः ॥२॥

विहाय सकलं कार्यं, कार्य्यः कर्तव्य-निर्णयः ।
सर्वतः प्राग् मनुष्येण, साधुभिस्तु विशेषतः ॥३॥

जो मनुष्य अपने कर्तव्य तथा अकर्तव्यको नहीं पहचानते, उनका किसी भी समयमें ऐसा अनिष्ट हो सकता है, जिसकी उन्होंने कभी कल्पना भी न की हो। ॥१॥

जो मनुष्य अपने कर्तव्य तथा अकर्तव्य नहीं जानते, वे मनुष्य होते हुए भी पशु सदृश ही हैं, क्योंकि कृत्याकृत्यका विवेक ही मनुष्य और पशुके बीचकी भेद-रेखा है। ॥२॥

अन्य सब कार्य छोड़कर पहले पहल मनुष्यको अपने कर्तव्य का ही निर्णय करना चाहिये। उनमें भी साधुओं—साधना करनेवालों को तो विशेषरूपसे इस तरफ ध्यान देना चाहिए। ॥३॥

साधोः साधुत्वसंरक्षा, कर्तव्यं प्रथमं मतम् ।
तत्र क्षम्या क्षतिर्न स्याद्, मनागपि मनस्विनः ॥४॥

पदे पदे क्षतिं कुर्यात्, साधुत्वव्यपदेशभाक् ।
ततस्तस्य कृते किं स्याल्लज्जास्पदमतोऽधिकम् ॥५॥

दद्याच्छिक्षां यथान्यस्मै, तथैवाचरणं निजम् ।
केवलेनोपदेशेन, निश्चितं वाग्विडम्बना ॥६॥

शास्त्रीयाः साम्प्रदायिक्यो, मर्यादा निर्मिता मताः ।
तास्ताः प्राणाधिका मत्वा, वर्तितव्यं सदा बुधैः ॥७॥

अपनी साधुताकी रक्षा करना प्रत्येक साधुका प्रथम कर्तव्य है। यदि इसमें किसी प्रकारकी कोई छोटी सी भी त्रुटि होती है तो वह भी क्षम्य नहीं मानी जाती, फिर चाहे वह त्रुटि किसी विद्वान् साधुसे ही क्यों न की गई हो। ॥४॥

साधु कहलानेवाला पुरुष भी यदि पग पग पर त्रुटि करता रहे तो उसके लिए इससे अधिक और कौन सी बात लज्जाजनक हो सकती है। ॥५॥

जैसी शिक्षा दूसरेको देते हो, पहले उसीके अनुरूप तुम स्वयं आचरण करो। यदि ऐसा न करके केवल उपदेश ही देते रहे तो निश्चित समझो कि उससे 'वागविडंबना' के अतिरिक्त और कुछ होनेका नहीं है, अर्थात् तुम्हारा यह कोरा उपदेश देना तो थूक उछालनेके समान निरर्थक होगा। उसका किसी पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सकेगा। ॥६॥

सभ्य पुरुषको शास्त्र-निर्मित तथा संघनिर्मित मर्यादाओंको अपने प्राणोंसे भी अधिक मानकर प्रवृत्ति करनी चाहिए। ॥७॥

कुर्यात्तु च्छत्वबुद्धिं यो, मर्यादायां महामदः
तुच्छत्वं प्राप्नुयाल्लोके, सोऽतिशीघ्रं समन्ततः ॥८॥

गणोऽयमहमेवास्मि—अहमेव गणोऽस्त्ययम् ।
ऐक्यं ममास्य चान्योन्यं, चिन्तनीयमिति ध्रुवम्॥९॥

शिरोरत्नमिवार्याज्ञां, धारयन्तः स्वमस्तके ।
निर्मान्तु निखिलं कार्यम्--आचार्याज्ञानुवर्तिनः॥१०॥

यस्योपरि यदा यत्र, यादृग् दृष्टिर्गणेशितुः ।
तस्योपरि तदा तत्र, तादृग् दृष्टिर्भवेत् सताम् ॥११॥

गुरोर्दृष्टिमनुदृष्टिरिङ्गितं चेङ्गितं तथा ।
विचारोऽनुविचारं स्याच्छिष्याणां दुर्गुणद्विषाम
चित्तवृत्तिमनुस्वीया, चित्तवृत्तिर्मतिस्तथा ।
श्रीवीर प्रभुणा प्रोक्तम्——आचारांगे विलोक्यताम्
॥१२-१३॥ (युग्मम)

अप्रसन्नो गुरुर्भूयात्, किञ्चित् कारणमाश्रयन् ।
प्रसन्नीकुरुतां शिष्यो, नम्रवाक्यनिवेदनात् ॥१४॥

विनेयो निजसर्वस्वं मन्यते सर्वदा गुरुम् ।
आराधयेत् यथा वह्निम्-आहिताग्निः कृताञ्जलिः ॥१५॥

पृष्टो गुरुभिराहूतो, निर्दिष्टोऽभीष्टकर्मणि ।
मन्वानो भागधेयं स्वं, धन्यं धन्यस्तथाचरेत् ॥१६॥

श्री महावीर स्वामीने आचारांग सूत्रमें कहा है कि दुर्गुणोंसे दूर रहनेवाले विनयी शिष्यकी दृष्टि, इङ्गित, विचार, चित्तवृत्ति और बुद्धि सदैव गुरुकी दृष्टि, इङ्गित, विचार, चित्तवृत्ति और बुद्धिका अनुगमन करनेवाली ही होती है। ॥१२॥१३॥

किसी कारणवश यदि गुरु अप्रसन्न हो जाएं तो शिष्यको चाहिए कि जिन कारणोंसे वे अप्रसन्न हुए हों, उन्हें दूर करता हुआ नम्र वचनोंसे पुनः प्रसन्न करे। ॥१४॥

विनयी शिष्य सर्वदा गुरुको ही अपना सर्वस्व मानता है। अतः जैसे अग्निहोत्री (अग्निको इष्ट माननेवाला) अग्निकी उपासना करता है, वैसे ही वह हाथ जोड़कर गुरुकी आराधना करता है। ॥१५॥

यदि शिष्यको गुरु कोई बात पूछे या कार्यवश अपने पास बुलाए अथवा किसी आवश्यक कार्यको करनेका आदेश दे तो शिष्य अपना परम सौभाग्य समझता हुआ सहर्ष निर्दिष्ट कार्यमें प्रवृत्त हो। ॥१६॥

वाढस्वरेण यत्रेष्टं, जल्पनं वाढमालयेत् ।
मन्दस्थाने तथा मन्दं, वर्तेताज्ञा यथा गुरोः ॥१७॥

सूचनां सकृदाकर्ण्य, न द्विस्त्रिः श्रोतुमापतेत् ।
संपादयेत्तथा कार्यं यथा स्याद् विनयश्रुतिः ॥१८॥

काये मनसि, वाक्येवा, प्रच्छन्ने प्रकटेऽपिवा ।
न मनागपि मालिन्यमाचार्यैस्तनुते सुधीः ॥१९॥

उपालम्भे प्रशंसायां, चेतोवृत्तिः सदा सदृक् ।
निरतः साधनामार्गे, निर्वाणं साधयेद् द्रुतम् ॥२०॥

जहां जोरसे बोलना अभीष्ट हो, वहां जोरसे और जहां धीरे बोलना अभीष्ट हो, वहां धीरे बोले अर्थात् गोप्य— रहस्यभूत बातको निकटस्थ अन्य व्यक्ति सुन सके, ऐसा जोरसे और प्रकाश्य बातको कोई सुनभी न पाये, ऐसा धीरेसे न कहे। इस प्रकार बोलनेमें विवेकसे काम लेता हुआ गुरुकी आज्ञाका अनुवर्तन करे। ॥१७॥

जिस कार्यके लिये गुरुने एकवार कह दिया हो, उसीके लिए दूसरी, तीसरी वार कहना पड़े, ऐसा अवसर न आने दे। केवल एकवारके कथनसे ही उस कार्यको तत्काल इस प्रकारसे करे जिससे कि विनयकी परिपाटी अक्षुण्ण बनी रहे। ॥१८॥

बुद्धिमान् शिष्य प्रच्छन्न रूपसे या प्रकट रूपसे मन, वचन तथा कायामें आचार्यके प्रति तनिक भी मलिनता न आने दे। ॥१९॥

उपालम्भ तथा प्रशंसाके विषयमें अपनी चित्तवृत्तिको सदा समान रखे, अर्थात् उपालम्भसे खिन्न और प्रशंसासे प्रफुल्ल न हो। इस प्रकार नितान्त साधनामें तत्पर रहता हुआ शीघ्रतासे मुक्ति प्राप्त करे। ॥२०॥

गुरोर्वाक्यं प्रतीक्षेत, मनस्यामोदमादधत् ।
मुक्ताहार इवाकण्ठे, स्थापयेत् तत्समादरात् ॥२१॥

पठने पाठने चैव, लेखने प्रतिलेखने ।
शिक्षणे वीक्षणे स्थाने, साधोः स्यात् सावधानता ॥२२॥

सर्वव्रतशिरोरत्नं, ब्रह्मचर्यमुदीरितम् ।
वृत्तिभिर्नवभिस्तस्य, कार्या रक्षा महात्मभिः ॥२३॥

भ्रूविक्षेपमनौचित्याद्, न सृजेदात्मयन्त्रितः ।
लोके हास्यं गृहे हानिः—येन भूयादचिन्तिता ॥२४॥

प्रसन्नचेता होकर गुरुके शिक्षामय कथनकी प्रतीक्षा-टोहमें लगा रहे। जब कभी गुरु कोई बात कहे तो उसे, जिस प्रकार मोतियोंके हारको गलेमें उत्कण्ठा पूर्वक स्थान दिया जाता है, उसी प्रकार अपने हृदयमें सादर स्थापित करे। ॥२१॥

पढ़नेमें, पढ़ानेमें, लिखनेमें, प्रतिलेखन (पडिलेहणः) में, सीखनेमें, देखनेमें और बैठनेमें साधकको पूर्ण सावधान रहना चाहिए। ॥२२॥

ब्रह्मचर्यको सब व्रतोंका शिरोमणि माना गया है अतः मुनियोंको नव-बाड़से उसकी सतत रक्षा करनी चाहिए। ॥२३॥

अपनी आत्माको नियन्त्रणमें रखते हुए ब्रह्मचारीको कभी अनुचित विकार युक्त दृष्टिक्षेप भी नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे अकल्पनीय अनर्थ पैदा होते हैं तथा 'घरमें हानि और लोकमें हंसी' होती है। ॥२४॥

पृष्टे वा यदि वापृष्टे, दृष्टेऽदृष्टेऽपिकर्मणि ।
प्राणात्ययेऽपि नो ब्रूयाद्, मृषा सत्यव्रतो मुनिः ॥२५॥

धर्मोपकरणेऽपीत्थं, न ममत्वं समाचरेत् ।
न हिंस्यात् प्राणिनः प्राणान्, नादत्तमाददीत यत् ॥२६

रत्नाधिका भवेयुर्ये, सर्वदा विनयोचिताः ।
विनयं नातिवर्तेत, तेषामग्रे महामतिः ॥२७॥

एते सन्ति लघीयान्सस्तार्जनीयाः क्षणे क्षणे ।
नेति निर्घृणता कार्या स्वात्मसाधनतत्परैः ॥२८॥

मुनि सत्यव्रती होता है अतः किसी देखी हुई तथा नहीं देखी हुई घटनाके विषयमें किसीके द्वारा पूछे-जानेपर तथा न पूछे जाने पर स्वयं प्राणोंका भय होने पर भी किसी प्रकारकी झूठ न बोले। ॥२५॥

संयममें साधनभूत वस्त्र, पात्र, रजोहरण प्रमुख उपकरणोंपर ममता न रक्खे, किसी प्राणीकी हिंसा न करे और न किसी प्रकारका अदत्त ग्रहण करे। ॥२६॥

जो रत्नाधिक (पूर्व दीक्षित) साधु होते हैं, वे सदा विनयके अधिकारी होते हैं अतः विचारशील साधु अपने गुरुजनोंके सामने विनयकी परिपाटीका उल्लंघन न करे। ॥२७॥

'यह तो मेरेसे छोटे हैं अतः इनको किसी भी समय भिड़कने का मुझे अधिकार है', इसप्रकारकी औचित्यहीन प्रवृत्ति आत्म-साधनामें तत्पर रहनेवाले मुमुक्षुको कभी नहीं करनी चाहिए ॥२८

कीदृग् प्रकृतिरेतस्य, पश्यैष कुरुते कथम् ।
एतयोरैक्यमाचित्रं, धिगेष नहि लज्जते ॥२९॥३०॥
इत्यद्यालोचनां त्यक्त्वा, परेषां स्वात्मदर्शिभिः ।
स्वदोषा दर्शनीया स्युर्येन स्यान्निर्वृतिर्हृदि ॥

लभेरन्नापदं दीर्घां, परदोषं दिदृक्षवः ।
स्वात्मदर्शी सुखी सद्यो, वीर-वाणी श्रुतिश्रुता ॥३१

शीघ्रं सद्धर्मसंघस्य, प्रचारःपृथ्वीतले ।
कथं भूयादिति ध्ययेत् सर्वदा स्वधिया-सुधिः ॥३२॥

सोढव्याः शक्तिमत्त्वेन, द्वाविंशतिः परीषहाः ।
कातराः कष्टवेलायां, भ्रश्यन्ति संयमाद् भृशम् ॥३३॥

इसका स्वभाव कितना निकृष्ट है, देखो यह कैसे कर रहा है, ये दोनों मिले हुए हैं, इनको धिक्कार है, जो इतना होने पर भी लज्जा नहीं आती। इस प्रकार दूसरोंकी आलोचना करना छोड़ कर आत्मदर्शिको अपने आत्मस्थ दोषोंकी ओर ध्यान देना चाहिए, जिससे कि हृदयमें सुख मिलनेका संचार हो। ॥२६॥३०॥

भगवान महावीरने कहा है कि जो सदा दूसरोंके दोष देखा करते हैं, वे भयंकर दुःखोंको प्राप्त होते हैं और जो अपने दोष देखा करते हैं, वे सुखोंको प्राप्त होते हैं। ॥३१॥

बुद्धिमान्को दूसरोंके दोषोंको देखनेका ध्यान छोड़कर इस ओर ध्यान देना चाहिए कि 'इस भूतल पर सच्चे धर्मका प्रचार शीघ्रातिशीघ्र कैसे किया जा सकता है।' ॥३२॥

संयम-चर्यामें उत्पन्न होनेवाले २२ परीषहों २२ प्रकारके विशेष कष्टोंको शक्तिशाली बनकर सहे। वे कायर होते हैं, जो कष्ट पड़नेपर संयमसे भ्रष्ट हो जाते हैं। ॥३३॥

हृद्दार्ढ्यं रक्षनीयं भो, भीतिमुक्तार्य भावतः।
नितिन्याययुते मार्गे, सदा चेतःप्रसन्नता ॥३४॥

अध्यात्मचिन्ता सुचिरं विधेया,
कदापि हेया न, विमोक्षवीथिः।
गेया गुरोः सद्गुणगीतिरेव,
ध्येया कृतिः सद्धिषणाधनेन ॥३५॥

क्वचित् कलाया न मदो विधेयो,
न दम्भचर्या नच दोषवृद्धिः।
कृतातिचारस्य विशुद्धिराशु,
कार्या-विकार्या न विचरस्वृत्ति ॥३६॥

साधूनां सुविवेकपूरितदृशां साध्वीसमाजस्य च,
किं ध्येयं सततं विचारुचिरं चादेमत्यास्ति किम्।
हेयं ज्ञेयमथेति संगमयितुं चैकाह्निकीयं कृता,
सद्बोधा वदनाङ्कजेन गणना कर्तव्य-षट्त्रिंशिका

कष्टोंके भयको दूर हटाकर हृदयमें दृढ़ता धारण करो और नीति तथा न्यायकी बातमें चाहे वह अपनेसे विरुद्ध जानेवाली भी क्यों न हो, अप्रसन्न न होकर सदा प्रसन्न ही रहो। ॥३४॥

निरन्तर अध्यात्म-चिन्तन करते रहो।
मोक्ष-मार्गको छोड़कर कभी भटको मत।
गुरुजनोंके सद्गुण याद करते रहो।
और अपने कार्योंको पैनी दृष्टिसे देखते रहो।

अपनेमें कोई कला या गुण हो तो उसका अहङ्कार मत करो। कपटसे दूर रहो। दोष-वृद्धिको रोकनेमें सचेष्ट रहो। भूलसे किये गये दोषकी शीघ्र ही दण्ड लेकर विशुद्धि करते रहो और चित्तवृत्तिको कभी विकारकी ओर मत झुकने दो। ॥३६॥

विवेकी साधुओं तथा साध्वियोंके सन्मुख भली प्रकारसे परखा हुआ क्या ध्येय होना चाहिए तथा उनके लिये आदेय, हेय ज्ञेय (ग्रहण करने योग्य, छोड़ने योग्य, और जानने योग्य) क्या होना चाहिए, यही बतानेके लिए वदना-पुत्र तुलसी गणीने एक दिनमें यह सम्यग् ज्ञान देनेवाली 'कर्तव्य-षट्-त्रिंशिका' बनाई ॥३७॥

इतिशम्